

“तत्त्वार्थसूत्र में न्याय के तार्किक बीज : तत्त्वनिर्णय, प्रमाण और नय का अनुशीलन”

लेखक:

डॉ. आशीष जैन आचार्य ‘शाहगढ़’

(राष्ट्रपति पुरस्कार प्राप्त)

महामंत्री, प्राकृत भाषा विकास फाउण्डेशन, सागर (म.प्र.)

दर्शन की रीढ़ न्याय है। न्याय को जाने और समझे बिना दर्शन को नहीं समझा जा सकता है। न्याय के मायने हैं – जिस साधन या प्रक्रिया के द्वारा हम अपने अभीष्ट या सही निष्कर्ष तक पहुँचते हैं, उसे न्याय कहते हैं। प्रमाण से वस्तु की परीक्षा करने का नाम न्याय है। प्रत्यक्ष और आगम के आश्रित अनुमान को अन्वीक्षा कहते हैं, इसी का नाम आन्वीक्षिकी, न्यायविद्या, न्यायशास्त्र, प्रमाणशास्त्र, तर्कशास्त्र, हेतुविद्या आदि कहा जाता है, जिसका उद्देश्य मनुष्य को यथार्थ ज्ञान (सच्चाई) प्राप्त कराना है।

परोक्ष पदार्थों की तर्क और युक्ति द्वारा सिद्धि तथा निर्णय की आवश्यकता से न्यायशास्त्र का विकास हुआ। प्रारंभ में न्याय का संबंध नैयायिक दर्शन से रहा, जिसने वैशेषिक दर्शन के तत्त्वों की तार्किक सिद्धि का प्रयास किया। किंतु जब विभिन्न दार्शनिक परंपराओं—विशेषतः वैशेषिक, सांख्य, मीमांसा और बौद्ध मत—के साथ दार्शनिक संवाद और मतभेद बढ़े, तब जैन आचार्यों को भी अपने सिद्धांतों की तार्किक स्थापना और परमत-निराकरण के लिए न्याय-पद्धति को विकसित करना पड़ा।

इसी क्रम में आचार्यश्री समन्तभद्र स्वामी, आचार्यश्री अकलंकदेव और आचार्यश्री विद्यानन्दि जैसे आचार्यों ने जैन न्याय को सुदृढ़ दार्शनिक आधार प्रदान किया किंतु इनके पूर्व ही तत्त्वार्थसूत्र में “प्रमाणनयैरधिगमः” कहकर ज्ञान की प्राप्ति के दो महत्त्वपूर्ण साधनों—प्रमाण और नय—का निर्देश कर दिया गया था। यही सूत्र जैन न्याय की आगे विकसित होने वाली ज्ञानमीमांसा का अत्यंत महत्त्वपूर्ण बीज माना जा सकता है।

जैन न्याय की विशेषता केवल तर्क-कौशल नहीं है। उसका उद्देश्य किसी प्रकार वाद में जीत जाना नहीं, बल्कि युक्तिसंगत ढंग से वस्तु-तत्त्व की सिद्धि करना है इसीलिए जैन परंपरा में सदहेतु, प्रमाण, नय और अनेकान्त को विशेष महत्त्व प्राप्त हुआ। यहाँ तर्क का प्रयोजन अहंकारपूर्ण विजय के स्थान पर यथार्थ ज्ञान की स्थापना है।

इस दृष्टि से तत्त्वार्थसूत्र का प्रमाण—नय सिद्धांत आगे चलकर विकसित हुए जैन न्याय का आधारभूत संकेत है। बाद के जैनाचार्यों ने इसी आधार को अधिक विस्तृत करते हुए प्रमाण, नय, हेतु, दृष्टान्त, अनुमान, तर्क, अनेकान्त, स्याद्वाद आदि का व्यवस्थित विवेचन किया। अतः कहा जा सकता है—तत्त्वार्थसूत्र में जैन न्याय का विस्तार नहीं, बल्कि उसका बीज—रूप विद्यमान है; आचार्यश्री समन्तभद्र स्वामी से आचार्यश्री अकलंकदेव और आचार्यश्री विद्यानन्दीजी तक आते-आते वही बीज एक विकसित तार्किक परंपरा के रूप में सामने आता है।

तत्त्वार्थसूत्र मूलतः तत्त्वज्ञान और मोक्षमार्ग का ग्रंथ है, लेकिन इसके सूत्रों में न्याय-दर्शन के अनेक मूलभूत तत्त्वों के बीज दिखाई देते हैं। विशेष रूप से प्रमाण, नय, प्रत्यक्ष-परोक्ष ज्ञान, वस्तु की अनेकात्मकता और तर्कपूर्ण कथन-पद्धति आगे विकसित होने वाले जैन न्याय की आधारभूमि बनते हैं।

“प्रमाणनयैरधिगमः” (1.6) सूत्र अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। यहाँ तत्त्वों के अधिगम के साधन के रूप में प्रमाण और नय का निर्देश मिलता है। आगे “मति श्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्” (1.9) द्वारा ज्ञान के भेद बताए गए हैं। इससे ज्ञान की वैधता और उसके साधनों पर विचार करने की न्यायपरंपरा का आधार मिलता है। “अर्पितानर्पिते सिद्धे” — यह सूत्र जैन अनेकान्तवादी दृष्टि और नयवाद को समझने की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। *अर्पित और अनर्पित—दोनों प्रकार से वस्तु की सिद्धि होती है।* यहाँ “अर्पित” का अर्थ है—वस्तु के किसी विशिष्ट धर्म या पक्ष को प्रधानता देकर कथन करना; और “अनर्पित” का अर्थ है—उस समय अन्य धर्मों को प्रधानता न देना, अथवा उन्हें गौण रखना। वस्तु में अनेक धर्म विद्यमान रहते हैं, किंतु कथन करते समय किसी एक धर्म को विवक्षित करके उसका प्रतिपादन किया जाता है।

न्याय के संदर्भ में इसका महत्त्व यह है कि किसी वस्तु के एक धर्म की सिद्धि करते समय उसके अन्य धर्मों का निषेध आवश्यक नहीं होता। जैसे—“घट नश्वर है” कहने पर घट का नश्वरत्व *अर्पित* है, जबकि उसका रूप, स्पर्श, द्रव्यत्व आदि उस कथन में *अनर्पित* हैं। इससे जैन न्याय की वह विशिष्ट पद्धति स्पष्ट होती है जिसमें एक पक्ष की सिद्धि दूसरे पक्ष का पूर्ण निषेध किए बिना की जाती है। यही विचार आगे नयवाद, अनेकान्तवाद और स्याद्वाद की तार्किक पृष्ठभूमि को मजबूत करता है।

इसी प्रकार नय वस्तु के किसी एक अपेक्षित पक्ष को ग्रहण करने की पद्धति है, जबकि प्रमाण वस्तु के यथार्थ ज्ञान का व्यापक साधन है। प्रमाण — यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने की प्रक्रिया। नय — वस्तु के किसी विशेष पक्ष को अपेक्षित दृष्टि से जानना। ज्ञान के भेद — मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय

और केवलज्ञान के माध्यम से ज्ञानमीमांसा की आधारभूमि। वस्तु का बहुपक्षीय स्वरूप — एक ही वस्तु को केवल एक पक्ष से पूर्णतः नहीं समझा जा सकता; यही अनेकान्तवाद और स्याद्वाद की दार्शनिक पृष्ठभूमि बनता है। तर्क एवं परीक्षण — तत्त्वों को स्वीकार करने में केवल परंपरा नहीं, बल्कि ज्ञान और विवेक की भूमिका को महत्त्व मिलता है।

इस दृष्टि से तत्त्वार्थसूत्र को जैन न्याय का व्यवस्थित ग्रंथ कहना उचित नहीं होगा, क्योंकि इसका मुख्य विषय मोक्षमार्ग और तत्त्वों का निरूपण है; लेकिन इसमें जैन न्याय के वे बीज-सूत्र अवश्य मिलते हैं, जिनका विस्तृत विकास बाद में आचार्यश्री समन्तभद्रस्वामी, आचार्यश्री सिद्धसेन दिवाकरजी, आचार्यश्री अकलंकदेव, आचार्यश्री विद्यानन्दीजी और आचार्यश्री प्रभाचन्द्रजी आदि की न्यायपरंपरा में हुआ।

न्याय का लक्षण -

न्यायादनपेतं न्याय्यं श्रुतज्ञानम् । अथवा, ज्ञेयानुसारित्वान्यायरूपत्वाद्वा न्यायः सिद्धांतः।¹

न्याय से युक्त है इसलिए श्रुतज्ञान न्याय कहलाता है। अथवा ज्ञेय का अनुसरण करने वाला होने से या न्यायरूप होने से सिद्धांत को न्याय कहते हैं।

नीयतेऽनेनेति हि नीतिक्रियाकरणं न्याय उच्यते।²

जिसके द्वारा निश्चय किया जाये ऐसी नीतिक्रिया का करना न्याय कहा जाता है।
प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः। प्रत्यक्षागमाश्रितमनुपानं सान्वीक्षा
प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्यान्वीक्षणमन्वीक्षा तथा प्रवर्तत इत्यान्वीक्षिकी न्यायविद्या न्यायशास्त्रम्।³

प्रमाण से वस्तु की परीक्षा करने का नाम न्याय है। प्रत्यक्ष और आगम के आश्रित अनुमान को अन्वीक्षा कहते हैं, इसी का नाम आन्वीक्षिकी या न्यायविद्या व न्यायशास्त्र है।

दर्शनशास्त्र (विशेषकर भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शन) में 'न्याय' शब्द के दो मुख्य संदर्भ हैं— पहला भारतीय न्याय दर्शन (तर्कशास्त्र) के अनुसार न्याय का अर्थ, और दूसरा नैतिक व राजनीतिक दर्शन के अनुसार सामाजिक न्याय का अर्थ। दर्शनशास्त्र में प्रमाणों और तर्कों के आधार पर किसी सही निर्णय या सिद्धांत तक पहुँचने की प्रक्रिया को 'न्याय' कहा जाता है।

¹ धवला 13/5,5,50/286/9

² न्यायविनिश्चय/वृ./1/358/1

³ न्या.द/भाष्य/1/1/1/पृ.3/18

1. भारतीय न्याय दर्शन (तर्कशास्त्र) के अनुसार न्याय - भारतीय दर्शन के न्याय दर्शन (जिसके प्रणेता महर्षि गौतम हैं) में 'न्याय' का शाब्दिक और तात्त्विक अर्थ तर्क, नियम और ज्ञान की विधि से है।

- शाब्दिक अर्थ: आचार्य देवराज के अनुसार, *नीयते विवक्षितार्थः अनेन इति न्यायः* अर्थात् जिस साधन या प्रक्रिया के द्वारा हम अपने अभीष्ट या सही निष्कर्ष तक पहुँचते हैं, उसे न्याय कहते हैं।
- प्रमाणों द्वारा परीक्षण: महर्षि वात्स्यायन ने कहा है— *प्रमाणैर्यपरीक्षणं न्यायः* अर्थात् प्रमाणों (प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और उपमान) के माध्यम से किसी विषय या सिद्धांत की सत्यता की जाँच करना ही न्याय है।
- इसे प्रमाणशास्त्र, तर्कशास्त्र, हेतुविद्या और अन्वीक्षिकी भी कहा जाता है, जिसका उद्देश्य मनुष्य को यथार्थ ज्ञान (सच्चाई) प्राप्त कराना है।

तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ, ग्रन्थकार एवं विषय-वस्तु का सामान्य परिचय

ग्रन्थ का परिचय - तत्त्वार्थसूत्र जैन दर्शन का अत्यन्त महत्वपूर्ण और सूत्रात्मक ग्रन्थ है। इसका मूल नाम “तत्त्वार्थाधिगमसूत्र” भी माना जाता है। ‘तत्त्वार्थ’ का अर्थ है—तत्त्व का यथार्थ स्वरूप, और ‘अधिगम’ का अर्थ है—उसका सम्यक् ज्ञान या बोध। अतः ग्रन्थ का मूल प्रयोजन तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप का व्यवस्थित प्रतिपादन और उनके अधिगम का मार्ग प्रस्तुत करना है। ग्रन्थ की विशेषता यह है कि अत्यन्त संक्षिप्त सूत्रों में जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष आदि जैन दार्शनिक विषयों का क्रमबद्ध विवेचन किया गया है। इसी कारण यह ग्रन्थ जैन तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा, आचारमीमांसा और मोक्षमीमांसा के अध्ययन की आधारभूमि बनता है।

ग्रन्थकार का परिचय- तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता आचार्य उमास्वामी हैं, जिन्हें उमास्वाति नाम से भी जाना जाता है। जैन परम्परा में उन्हें अत्यन्त महत्वपूर्ण दार्शनिक आचार्य के रूप में स्वीकार किया गया है। उनके ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने जैन दर्शन के अनेक मूल सिद्धान्तों को सूत्रात्मक, क्रमबद्ध और तर्कसंगत शैली में प्रस्तुत किया। तत्त्वार्थसूत्र की भाषा संस्कृत है और इसकी सूत्र-शैली अत्यन्त संक्षिप्त होने के कारण प्रत्येक सूत्र के भीतर व्यापक दार्शनिक अर्थ समाहित हैं। यही सूत्रात्मकता इसे न्याय, ज्ञानमीमांसा और तत्त्वमीमांसा के अध्ययन की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण बनाती है। इसमें दस अध्याय हैं और 357 सूत्र हैं।

विषय-वस्तु का सामान्य परिचय- तत्त्वार्थसूत्र की विषय-वस्तु मुख्यतः तत्त्वों के स्वरूप, उनके परस्पर संबंध और मोक्षमार्ग के विवेचन पर केन्द्रित है। आरम्भ में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र को मोक्षमार्ग के रूप में प्रस्तुत किया जाता है और आगे जीव-अजीव आदि तत्त्वों का विस्तार से निरूपण होता है। ग्रन्थ में जीव के स्वरूप एवं भेद, अजीव द्रव्य, लोक-रचना, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, कर्मों का स्वरूप तथा मोक्ष आदि विषय क्रमशः आते हैं। इस क्रम में केवल धार्मिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन ही नहीं, बल्कि वस्तु को लक्षण, भेद, संख्या, क्षेत्र, काल, संबंध और अन्य अपेक्षाओं से निश्चित करने की पद्धति भी दिखाई देती है।

तत्त्वार्थसूत्र में न्याय के बीज –

तत्त्वार्थसूत्र का आधार	न्याय का बीज	विषय वस्तु
तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्	यथार्थता/सत्यबोध	यथार्थबोध और तत्त्वनिर्णय की भूमिका
नाम-स्थापना-द्रव्य-भावतस्तन्नयासः।	संज्ञा, अभिधान और वस्तु-निर्धारण	निक्षेप : वस्तुनिर्णय की तार्किक पद्धति
प्रमाणनयैरधिगमः।	प्रमाण और नय	प्रमाण-नय : जैन न्याय का मूलाधार
निर्देश-स्वामित्व-साधनाधिकरण-स्थिति-विधानतः।	व्यवस्थित प्रश्न-पद्धति एवं विश्लेषण	षड्विध अनुयोग : पदार्थ-निर्णय की विश्लेषण-पद्धति
सत्-संख्या-क्षेत्र-स्पर्शन-कालान्तर-भावाल्पबहुत्वैश्च।	वस्तु के अनेक निर्धारक	अष्टविध निर्धारण-पद्धति : वस्तु के स्वरूप का परीक्षण
अवग्रह-ईहा-अवाय-धारणा।	ग्रहण → विचार → निर्णय → धारण	ज्ञान से निर्णय तक : अवग्रह से धारणा की प्रक्रिया
मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्।	ज्ञान के साधन और स्वरूप	ज्ञानमीमांसा से न्यायमीमांसा की ओर
“आद्ये परोक्षम्”, “प्रत्यक्षमन्यत्”	प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रमाण	प्रमाण का वर्गीकरण : प्रत्यक्ष और परोक्ष
“सदसतोरविशेषाद्...”	सत्य-असत्य का विवेक	विपर्यय : मिथ्याज्ञान की तार्किक पहचान
नैगमसंग्रह-व्यवहारजुसूत्रसमभिरूढैःवंभूताः नयाः।	दृष्टिकोण/पक्ष-ग्रहण	सप्तनय : वस्तु के पक्षों का तार्किक ग्रहण
“अर्पितानर्पितसिद्धेः”	मुख्य-गौण अपेक्षा से	अर्पित-अनर्पित : विरोधी

	विरोधी धर्मों की सिद्धि	धर्मों के समन्वय की युक्ति
“उपयोगो लक्षणम्”	लक्षण द्वारा वस्तु की पहचान	लक्षण और लक्ष्य : वस्तु-निर्णय की पद्धति
“सद् द्रव्यलक्षणम्”	सामान्य लक्षण द्वारा द्रव्य-निर्णय	लक्षण-निर्धारण और तत्त्वसिद्धि
द्रव्य-गुण-पर्याय का विवेचन	एक ही वस्तु के विभिन्न धर्म	द्रव्य, गुण और पर्याय : बहुपक्षीय वस्तु-दृष्टि
हेतुओं का निरूपण	कारण-कार्य संबंध	हेतु और कारणता : तत्त्वसिद्धि की आधारभूमि

यथार्थबोध और तत्त्वनिर्णय : न्याय की मूल पूर्वपीठिका

तत्त्वार्थसूत्र का सूत्र “तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्” जैन दर्शन में यथार्थबोध की आधारभूमि को उद्घाटित करता है। यहाँ ‘तत्त्वार्थ’ का आशय वस्तु के वास्तविक स्वरूप से और ‘श्रद्धानं’ का आशय उस तत्त्व में सम्यक् निश्चयपूर्वक अभिमुखता से है। अतः सम्यग्दर्शन का आधार किसी कल्पित अथवा विपरीत धारणा में नहीं, बल्कि तत्त्व के यथार्थ स्वरूप के ग्रहण में निहित है। यही बिन्दु आगे तत्त्वनिर्णय की आवश्यकता को जन्म देता है—यदि तत्त्व का यथार्थ स्वरूप ग्रहण करना है, तो पहले यह निश्चित करना आवश्यक होगा कि तत्त्व क्या है? उसका स्वरूप क्या है? और उसका यथार्थ ज्ञान किस प्रकार संभव है?

यहीं से न्याय की पूर्वपीठिका निर्मित होती है। न्याय का मूल प्रश्न भी वस्तु के संबंध में यथार्थ निश्चय तक पहुँचना है। इस दृष्टि से तत्त्वार्थसूत्र का यह सूत्र न्याय की विकसित पद्धति—प्रमाण, नय, हेतु अथवा अनुमान—को अभी प्रत्यक्ष रूप में प्रस्तुत नहीं करता, बल्कि उससे पहले की अत्यन्त आवश्यक भूमि तैयार करता है। इसकी तार्किक संरचना को इस प्रकार समझा जा सकता है—तत्त्वार्थ, यथार्थ स्वरूप, यथार्थबोध, निश्चय, तत्त्वनिर्णय, प्रमाण—नय द्वारा अधिगम।

अर्थात् जहाँ यथार्थ तत्त्वबोध की आवश्यकता स्वीकार की जाती है, वहीं उसके यथार्थ निर्धारण की समस्या उत्पन्न होती है; और यथार्थ निर्धारण की व्यवस्थित पद्धति ही आगे न्याय के क्षेत्र का निर्माण करती है। इसीलिए “तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्” न्याय का प्रत्यक्ष सूत्र नहीं, बल्कि न्याय की उस मूल दार्शनिक आवश्यकता का बीज है, जिसमें मिथ्या-बोध से पृथक् यथार्थ-बोध और अनिश्चितता से पृथक् तत्त्व-निश्चय को प्रमुखता प्राप्त होती है।

निक्षेप : वस्तुनिर्णय की तार्किक पद्धति

तत्त्वार्थसूत्र में सूत्र “नाम—स्थापना—द्रव्य—भावतस्तन्यासः” के माध्यम से वस्तु के कथन और निर्धारण के चार आधार प्रस्तुत किए गए हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। किसी वस्तु को केवल उसके नाम से जान लेना उसके पूर्ण स्वरूप का निश्चय नहीं करता। नाम किस वस्तु का है, उसकी स्थापना किस रूप में है, वास्तविक द्रव्य क्या है और वर्तमान भाव या अवस्था क्या है—इन विभिन्न अपेक्षाओं से वस्तु का अधिक निश्चित बोध होता है।

न्याय के बीज की दृष्टि से इसका महत्त्व इस बात में है कि यहाँ एक ही विषय को एक ही दृष्टि से ग्रहण करने के स्थान पर उसके कथन के आधार को स्पष्ट किया जाता है। इससे यह तार्किक अनुशासन विकसित होता है कि किसी पद या वस्तु के संबंध में निष्कर्ष देने से पहले यह निश्चित किया जाए कि वह किस अर्थ में प्रयुक्त है और किस अपेक्षा से उसका कथन किया जा रहा है। इस प्रकार निक्षेप शब्द, अभिप्राय, वस्तु और अवस्था के माध्यम से अर्थ-निश्चय की प्रक्रिया प्रस्तुत करता है। इसे न्याय की पूर्वपीठिका के रूप में इस प्रकार सूत्रबद्ध किया जा सकता है— शब्द का निर्धारण, अभिप्राय का निर्धारण, वस्तु का निर्धारण, अवस्था का निर्धारण और अर्थ का निश्चय।

मान लीजिए किसी व्यक्ति को बार-बार प्यास लग रही है और वह अनुमान कर लेता है—“मुझे मधुमेह है।” केवल एक लक्षण के आधार पर किया गया यह निश्चय यथार्थ तत्त्वनिर्णय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वही लक्षण अन्य कारणों से भी हो सकता है।

अब चिकित्सक व्यवस्थित रूप से विचार करता है। रोग के लक्षणों का प्रत्यक्ष परीक्षण, रक्त-जाँच जैसी प्रमाणित जाँच, चिकित्साशास्त्र में स्वीकृत ज्ञान अर्थात् आगम, तथा उपलब्ध तथ्यों के परस्पर संबंध का तार्किक परीक्षण किया जाता है। उदाहरणतः यदि रक्त में ग्लूकोज का स्तर निर्धारित चिकित्सकीय सीमा से अधिक पाया जाता है और अन्य परीक्षण भी उसी निष्कर्ष की पुष्टि करते हैं, तब उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर रोग का निश्चय किया जाता है। यहाँ केवल “प्यास लगना” देखकर निष्कर्ष नहीं निकाला गया, बल्कि लक्षण, परीक्षण, प्रमाण, तर्कपूर्वक परीक्षण, निश्चित निष्कर्ष की प्रक्रिया अपनाई गई।

इसे और अधिक न्यायसम्मत रूप में इस प्रकार रखा जा सकता है—

प्रतिज्ञा — इस व्यक्ति में मधुमेह का रोग है।

हेतु — क्योंकि प्रमाणित परीक्षणों में रक्त-शर्करा निर्धारित सीमा से अधिक पाई गई है।

दृष्टान्त — जिन व्यक्तियों में ऐसे प्रमाणित परीक्षणों से रोग की पुष्टि होती है, उनमें मधुमेह का निदान किया जाता है।

उपनय — इस व्यक्ति में भी वही परीक्षण-परिणाम उपस्थित हैं।

निगमन — अतः इस व्यक्ति में मधुमेह का निदान सिद्ध होता है।

तत्त्वार्थसूत्र के इस सूत्र में पंचावयव न्याय या अनुमान की यह पूरी संरचना प्रत्यक्ष रूप से नहीं दी गई है इसलिए इसे तत्त्वार्थसूत्र का प्रत्यक्ष पंचावयव न्याय कहना उचित नहीं होगा। इसे “यथार्थबोध से तत्त्वनिर्णय और प्रमाणाधारित निश्चय की ओर जाने वाली तार्किक पूर्वपीठिका” के आधुनिक उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करना अधिक शास्त्रीय रूप से सुरक्षित है।

प्रमाण-नय : जैन न्याय का मूलाधार

तत्त्वार्थसूत्र का सूत्र “प्रमाणनयैरधिगमः” जैन ज्ञानमीमांसा और न्याय-चिन्तन की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। सूत्र अत्यल्प शब्दों में यह निर्धारित करता है कि तत्त्वों का अधिगम प्रमाण और नय के द्वारा होता है। यहाँ ‘अधिगम’ केवल किसी वस्तु की जानकारी प्राप्त कर लेना नहीं है, बल्कि तत्त्व के यथार्थ स्वरूप तक पहुँचना और उसका निश्चय करना है। इस प्रकार यह सूत्र पूर्व में प्रतिपादित तत्त्वार्थ के यथार्थबोध को एक निश्चित ज्ञान-पद्धति प्रदान करता है। पहले यह अपेक्षा सामने आती है कि तत्त्व का बोध यथार्थ होना चाहिए; अब यह बताया जाता है कि उस यथार्थ अधिगम के साधन क्या हैं—प्रमाण और नय।

इस सूत्र की विशेषता यह है कि आचार्य उमास्वामी ने प्रमाण और नय दोनों को तत्त्व-अधिगम की संरचना में साथ रखा है। इससे जैन ज्ञान-पद्धति की एक महत्वपूर्ण विशेषता सामने आती है। वस्तु का ज्ञान केवल इतना पर्याप्त नहीं कि किसी प्रकार उसका ज्ञान हो गया; यह भी आवश्यक है कि ज्ञान किस प्रकार प्राप्त हुआ ? और वस्तु के किस पक्ष को ग्रहण करके उसका कथन किया जा रहा है ? इसका निर्धारण हो। प्रमाण और नय इसी दोहरी आवश्यकता को पूरा करते हैं इसलिए यह सूत्र ज्ञान को केवल प्राप्ति की प्रक्रिया न मानकर प्रामाणिक ज्ञान और पक्षविशिष्ट कथन की व्यवस्थित पद्धति से जोड़ता है।

प्रमाण : यथार्थ ज्ञान का आधार

‘प्रमाण’ का स्थान यहाँ इसलिए महत्वपूर्ण है कि तत्त्व के संबंध में किया गया ज्ञान यथार्थ और निश्चयात्मक होना चाहिए। तत्त्वार्थसूत्र आगे ज्ञान के विभिन्न प्रकारों का विवेचन करता है और ज्ञान की संरचना को क्रमशः स्पष्ट करता है। इस प्रकार प्रमाण की स्थापना वस्तु के यथार्थ ज्ञान की प्रामाणिकता से संबंधित प्रश्न को सामने लाती है।

न्याय की दृष्टि से मूल प्रश्न है— जिस वस्तु का हम ज्ञान प्राप्त कर रहे हैं, उसके संबंध में हमारा ज्ञान यथार्थ कैसे माना जाए? यही प्रश्न प्रमाण की आवश्यकता को जन्म देता है। अतः प्रमाण न्याय की ज्ञानगत आधारभूमि है। तत्त्वार्थसूत्र में इसका महत्त्व इस कारण और बढ़ जाता है कि प्रमाण को तत्त्व के अधिगम का साधन माना गया है।

नय : वस्तु के पक्षविशेष का ग्रहण

प्रमाण के साथ नय का उल्लेख तत्त्वार्थसूत्र की तार्किक दृष्टि को और अधिक विशिष्ट बनाता है। वस्तु अनेक धर्मों और पक्षों से युक्त होती है। उसके किसी एक पक्ष को, किसी विशेष अभिप्राय या अपेक्षा से ग्रहण करके किया गया कथन नय की दिशा में जाता है इसलिए प्रमाण और नय के बीच एक कार्यगत अंतर को इस प्रकार समझा जा सकता है—

प्रमाण — वस्तु का यथार्थ ज्ञान।

नय — वस्तु के किसी अपेक्षित/विशिष्ट पक्ष का ग्रहण और कथन।

यहाँ से जैन न्याय की वह विशिष्ट तार्किक भूमि तैयार होती है जिसमें एक ही वस्तु के संबंध में विभिन्न कथन परस्पर विरोधी न होकर अलग-अलग अपेक्षाओं से सत्य हो सकते हैं। आगे तत्त्वार्थसूत्र में नयों का विस्तृत निरूपण इसी आधार को विकसित करता है।

प्रमाण और नय का संयुक्त महत्त्व

यदि केवल प्रमाण को स्वीकार किया जाए, तो प्रश्न उठता है कि वस्तु के विशाल और बहुआयामी स्वरूप को कथन में किस प्रकार ग्रहण किया जाए? और यदि केवल नय को स्वीकार किया जाए, तो प्रश्न होगा कि ग्रहण किया गया पक्ष यथार्थ ज्ञान पर आधारित कैसे है? इस दृष्टि से— प्रमाण ज्ञान को यथार्थता प्रदान करता है और नय उस यथार्थ वस्तु के विशिष्ट पक्ष को ग्रहण करने की पद्धति देता है।

यही कारण है कि “प्रमाणनयैरधिगमः” को जैन न्याय के लिए अत्यन्त आधारभूत सूत्र माना जा सकता है। यह सूत्र वस्तु के ज्ञान और उसके कथन—दोनों को व्यवस्थित करता है।

पूर्ववर्ती सूत्र से संबंध

आपके शोध की दृष्टि से इस सूत्र को अकेले नहीं, बल्कि पूर्ववर्ती सूत्र “तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्” के साथ पढ़ना अधिक प्रभावशाली होगा। दोनों को जोड़ने पर एक स्पष्ट दार्शनिक क्रम बनता है—

“तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्” से प्रारम्भ होने वाली तत्त्वार्थसूत्र की ज्ञानमीमांसात्मक दृष्टि में सर्वप्रथम यथार्थ तत्त्वबोध की आवश्यकता स्वीकार की जाती है। जब तत्त्व के यथार्थ स्वरूप को जानना और उसमें निश्चय प्राप्त करना उद्देश्य बनता है, तब स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उपस्थित होता है कि तत्त्व का निश्चय किस प्रकार हो? इसी प्रश्न का सूत्ररूप उत्तर “प्रमाणनयैरधिगमः” में प्राप्त होता है। अर्थात् तत्त्व का व्यवस्थित अधिगम प्रमाण और नय के द्वारा होता है। प्रमाण के माध्यम से तत्त्व का यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है, जबकि नय के माध्यम से वस्तु के विशिष्ट पक्ष का ग्रहण और कथन किया जाता है। इस प्रकार तत्त्वार्थश्रद्धान से प्रारम्भ होकर यथार्थ तत्त्वबोध की आवश्यकता, तत्त्वनिश्चय की समस्या, प्रमाण—नय की स्थापना और उनके द्वारा वस्तु के यथार्थ एवं पक्षविशिष्ट अधिगम की प्रक्रिया क्रमशः विकसित होती है। यही क्रम तत्त्वार्थसूत्र में यथार्थबोध से व्यवस्थित तत्त्वनिर्णय तक पहुँचने वाली तार्किक पद्धति की आधारभूमि निर्मित करता है।

इस प्रकार “तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्” न्याय की प्रयोजनभूमि तैयार करता है और “प्रमाणनयैरधिगमः” उस यथार्थबोध की ज्ञानमीमांसात्मक पद्धति को सामने रखता है। यही संक्रमण इस शोध में अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

“प्रमाणनयैरधिगमः” को आधुनिक या उत्तरवर्ती न्यायशास्त्र के विकसित प्रमाणशास्त्र का पूर्ण प्रतिपादन नहीं कहा जा सकता। सूत्र में प्रमाण और नय की संपूर्ण तार्किक प्रक्रिया इस एक वाक्य में नहीं दी गई है। परन्तु इसमें वह मूल प्रश्न और उसका आधारभूत उत्तर स्पष्ट रूप से उपस्थित है— यथार्थ तत्त्व का अधिगम होना चाहिए और उसके लिए प्रमाण तथा नय साधन हैं।

अतः “प्रमाणनयैरधिगमः” तत्त्वार्थसूत्र में न्याय के बीजों में सबसे सशक्त और प्रत्यक्ष सूत्रों में से एक है। यहाँ से आगे प्रमाण का स्वरूप, ज्ञान के प्रकार, विपर्यय, नय की संरचना और वस्तु के

अनेक पक्षों का तार्किक विवेचन विकसित किया जा सकता है। इस अर्थ में यह सूत्र इस शोध का केन्द्रीय सेतु है—यथार्थबोध से तर्कबद्ध तत्त्वनिर्णय तक।

षड्विध अनुयोग : पदार्थ-निर्णय की विश्लेषण-पद्धति

तत्त्वार्थसूत्र का सूत्र “निर्देश—स्वामित्व—साधनाधिकरण—स्थिति—विधानतः” तत्त्वों के व्यवस्थित विवेचन की एक विशिष्ट पद्धति प्रस्तुत करता है। किसी पदार्थ के संबंध में केवल उसका नाम या स्वरूप बता देना पर्याप्त नहीं है; उसके निर्देश अर्थात् उसका प्रतिपादन किस प्रकार किया गया है, स्वामित्व अर्थात् उसका संबंध किसके साथ है, साधन अर्थात् उसकी उपलब्धि अथवा स्थिति का आधार क्या है, अधिकरण अर्थात् वह कहाँ स्थित है, स्थिति अर्थात् उसकी कालगत अवस्था कितनी है और विधान अर्थात् उसके कितने प्रकार अथवा किस प्रकार की व्यवस्था है—इन विभिन्न अपेक्षाओं से उसका अधिक पूर्ण एवं निश्चित ज्ञान प्राप्त होता है। इस प्रकार सूत्र वस्तु के एकांगी वर्णन के स्थान पर बहुआयामी विश्लेषण की पद्धति प्रस्तुत करता है।

न्याय के बीज की दृष्टि से इसका महत्त्व इस बात में है कि यहाँ पदार्थ के संबंध में प्रश्न उठाने और उत्तर को विभिन्न निश्चित आधारों में विभाजित करने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। अर्थात् किसी विषय का निर्णय करते समय यह देखा जाता है कि क्या है, किसका है, किस साधन से है, कहाँ है, कितने समय तक है और कितने प्रकार का है? इस प्रकार एक ही पदार्थ को विभिन्न विश्लेषणात्मक प्रश्नों के माध्यम से परखा जाता है और उसके स्वरूप का अधिक निश्चित अधिगम किया जाता है। अतः इसे न्याय की पूर्ण विकसित पद्धति न कहकर पदार्थ-विश्लेषण और तत्त्वनिर्णय की तार्किक पूर्वपीठिका कहना अधिक उपयुक्त है। इस दृष्टि से षड्विध अनुयोग वस्तु के व्यवस्थित परीक्षण की ऐसी प्रश्न-पद्धति है, जो सामान्य ज्ञान को क्रमबद्ध विश्लेषण और विश्लेषण को तत्त्व-निश्चय की दिशा प्रदान करती है।

उदाहरण के लिए “मोबाइल फोन” को ही लेते हैं। किसी व्यक्ति को केवल यह बता देना कि “यह मोबाइल फोन है”, उसके संबंध में पूर्ण ज्ञान नहीं देता। उसके बारे में अलग-अलग प्रश्न करके उसका व्यवस्थित निर्धारण किया जा सकता है। मान लीजिए किसी व्यक्ति के हाथ में एक स्मार्टफोन है। उसके संबंध में निम्न प्रकार से विचार किया जाता है—

निर्देश — यह वस्तु क्या है?

उत्तर— यह स्मार्टफोन है, जिसकी पहचान उसके नाम, मॉडल और विशेषताओं से होती है।

स्वामित्व — यह किसका है ?

उत्तर— यह व्यक्ति विशेष का है अथवा किसी संस्था/कंपनी के उपयोग में है।

साधन — यह किस साधन से उपलब्ध या कार्यशील है ?

उत्तर— इसके संचालन के लिए बैटरी, विद्युत-ऊर्जा, सॉफ्टवेयर, नेटवर्क आदि आवश्यक हैं।

अधिकरण — यह कहाँ है ?

उत्तर— वर्तमान में यह व्यक्ति के हाथ में है; इसका उपयोग घर, कार्यालय या किसी अन्य स्थान पर किया जा सकता है।

स्थिति — यह कितने समय तक इस अवस्था में रहेगा ?

उत्तर— इसकी बैटरी की वर्तमान स्थिति कुछ समय तक रहेगी; उसका मॉडल और भौतिक अस्तित्व भी एक निश्चित काल तक बना रहेगा, जबकि उसकी कार्यक्षमता समय के साथ बदल सकती है।

विधान — इसके कितने प्रकार अथवा विन्यास हैं ?

उत्तर— स्मार्टफोन अनेक कंपनियों, मॉडलों, क्षमताओं, ऑपरेटिंग सिस्टम और तकनीकी विशेषताओं के आधार पर अनेक प्रकार के होते हैं।

इस उदाहरण से स्पष्ट होता है कि एक ही वस्तु को छह अलग-अलग प्रश्नों के माध्यम से देखने पर उसका ज्ञान अधिक व्यापक और निश्चित हो जाता है। यदि कोई केवल “यह मोबाइल है” कहकर रुक जाए तो ज्ञान सामान्य रहेगा; लेकिन क्या है, किसका है, किस आधार पर है, कहाँ है, कितनी देर/किस अवस्था में है और कितने प्रकार का है—इन प्रश्नों के उत्तर मिलने पर वस्तु का अधिक व्यवस्थित निर्धारण होता है।

अष्टविध निर्धारण-पद्धति : वस्तु के स्वरूप का परीक्षण

तत्त्वार्थसूत्र का सूत्र “सत्-संख्या-क्षेत्र-स्पर्शन-कालान्तर-भावाल्पबहुत्वैश्च” वस्तु के स्वरूप और उसके अस्तित्व का बहुआयामी परीक्षण प्रस्तुत करता है। किसी पदार्थ को केवल उसके सामान्य नाम या स्वरूप से जान लेना पर्याप्त नहीं माना गया, बल्कि उसके संबंध में सत् क्या है, उसकी संख्या कितनी है, उसका क्षेत्र क्या है, उसका स्पर्शन अथवा विस्तार कितना है, उसका कालगत संबंध क्या है, उसमें अन्तर या अंतराल कैसा है, उसका भाव या अवस्था क्या है? तथा

उसमें अल्पबहुत्व का क्या स्वरूप है? इन विभिन्न निर्धारकों के माध्यम से उसका विशिष्ट ज्ञान प्राप्त किया जाता है। इस प्रकार एक ही वस्तु को अनेक निश्चित आधारों पर परखकर उसके स्वरूप को अधिक स्पष्ट और सुनिश्चित किया जाता है।

न्याय के बीज की दृष्टि से इसका महत्त्व “वस्तु को निश्चित करने के लिए अनेक प्रश्नों और निर्धारक आधारों का प्रयोग” है। यहाँ किसी पदार्थ के संबंध में एक ही सामान्य कथन करके रुकने के बजाय उसके अस्तित्व, संख्या, क्षेत्र, काल, अवस्था तथा परिमाण आदि का पृथक्-पृथक् परीक्षण किया जाता है। इससे वस्तु के संबंध में विश्लेषण, परीक्षण, निर्धारण और फिर निश्चय की तार्किक प्रक्रिया निर्मित होती है इसलिए इसे विकसित न्यायशास्त्रीय प्रमाण-पद्धति कहना उचित नहीं होगा, किंतु वस्तु-विश्लेषण और तत्त्वनिर्णय की बहुआयामी तार्किक पद्धति का महत्वपूर्ण बीज अवश्य कहा जा सकता है। विशेष रूप से इस शोध में यह स्पष्ट किया गया है कि जहाँ षड्विध अनुयोग प्रश्नों के आधार निर्धारित करता है, वहीं यह अष्टविध निर्धारण-पद्धति उन्हीं वस्तुओं के स्वरूप को और अधिक सूक्ष्म निर्धारकों द्वारा परखने की दिशा प्रदान करती है।

उदाहरण - “भरत क्षेत्र” को ही विषय बनाकर विचार करें। तब प्रश्न इस प्रकार होंगे—सत् : भरत क्षेत्र का अस्तित्व है या नहीं? संख्या : कितने भरत क्षेत्र हैं? क्षेत्र : वह कहाँ स्थित है और उसका विस्तार कितना है? स्पर्शन : उसका विस्तार/स्थानिक संबंध कितना है? काल : उसकी स्थिति किस काल से संबंधित है? अन्तर : अन्य क्षेत्रों से उसका अंतर कितना है? भाव : उसकी अवस्था अथवा स्थिति कैसी है? अल्पबहुत्व : दूसरे क्षेत्रों की अपेक्षा उसका परिमाण कम है या अधिक? इस प्रकार एक ही विषय को अलग-अलग आधारों से जाँचने पर उसका अधिक निश्चित स्वरूप सामने आता है। ग्रन्थ में भरत क्षेत्र के विस्तार को भी निश्चित रूप से बताया गया है और आगे अन्य क्षेत्रों के विस्तार की तुलना उससे की गई है।

यही इसकी तार्किक विशेषता है। यहाँ केवल “भरत क्षेत्र है” इतना कहकर विषय समाप्त नहीं होता; बल्कि “वह क्या है, कितना है, कहाँ है, किससे संबंधित है, किस काल में है और अन्य की अपेक्षा कितना है”—ऐसे क्रमिक प्रश्नों से वस्तु का परीक्षण किया जाता है। न्याय की दृष्टि से इसे वस्तु-निर्धारण की बहुआयामी पद्धति कहा जा सकता है। इसका तार्किक क्रम है—विषय का ग्रहण, प्रश्नों द्वारा परीक्षण, विभिन्न धर्मों का निर्धारण, परस्पर तुलना और निश्चित निष्कर्ष।

“अष्टविध निर्धारण-पद्धति का वैशिष्ट्य यह है कि वस्तु को एकमात्र धर्म से नहीं, बल्कि उसके अस्तित्व, संख्या, क्षेत्र, काल, भाव और परिमाण आदि विभिन्न निर्धारकों के माध्यम से परीक्षित

किया जाता है; इस बहुआयामी परीक्षण से वस्तु के सामान्य ज्ञान का रूपान्तरण अधिक निश्चित तत्त्वज्ञान में होता है। यही वस्तु-निश्चय की तार्किक प्रवृत्ति न्याय के बीज के रूप में ग्रहणीय है।”

ज्ञान से निर्णय तक : अवग्रह से धारणा की प्रक्रिया

तत्त्वार्थसूत्र में सूत्र “अवग्रह—ईहा—अवाय—धारणाः” ज्ञान की क्रमिक विकास-प्रक्रिया को अत्यन्त संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत करता है। इसमें ज्ञान एक ही क्षण में पूर्ण और निश्चित नहीं हो जाता, बल्कि प्रथम वस्तु का सामान्य ग्रहण, फिर उसके स्वरूप के संबंध में विचार, उसके बाद निश्चित निर्णय और अंततः उस ज्ञान का स्थिरीकरण होता है। इस क्रम में अवग्रह प्रारम्भिक ग्रहण है, ईहा ज्ञात वस्तु के संबंध में विशेषता जानने की जिज्ञासा एवं विचार है, अवाय उस विचार के आधार पर प्राप्त निश्चित निर्णय है और धारणा उस निश्चित ज्ञान का स्थायित्व है। इस प्रकार यह क्रम ग्रहण, विचार, निर्णय और धारण के रूप में ज्ञान की एक क्रमबद्ध तार्किक यात्रा को सामने रखता है।

इसे एक उदाहरण से भी समझ सकते हैं -कक्षा में विद्यार्थी की पहचान: मान लीजिए शिक्षक कक्षा में प्रवेश करते हैं और दूर से किसी विद्यार्थी को देखते हैं। उन्हें पहले केवल इतना दिखाई देता है कि “कोई विद्यार्थी बैठा है”—यह अवग्रह है। शिक्षक ध्यान से देखते हैं और सोचते हैं—“यह कौन विद्यार्थी है? क्या यह वही छात्र है जिसने कल प्रश्न पूछा था?” यह ईहा है। विद्यार्थी के चेहरे, स्थान, वेशभूषा और अन्य पहचाने जा सकने वाले लक्षणों को देखकर शिक्षक निश्चित करते हैं—“हाँ, यह वही विद्यार्थी है।” यह अवाय, अर्थात् निर्णय है। बाद में उस विद्यार्थी का परिचय शिक्षक के ज्ञान में स्थिर हो जाता है—यह धारणा है।

न्याय के बीज की दृष्टि से इसका विशेष महत्त्व “निर्णय” तक पहुँचने की प्रक्रिया में है। केवल किसी वस्तु का प्रथम ज्ञान पर्याप्त नहीं है; उसके संबंध में विचार और परीक्षण के पश्चात् निश्चय उत्पन्न होता है और वह निश्चय धारणा के रूप में स्थिर होता है। इसे आधुनिक उदाहरण से समझें—दूर से किसी व्यक्ति को देखकर पहले केवल इतना ज्ञात हुआ कि “कोई व्यक्ति खड़ा है”—यह अवग्रह है। उसके वस्त्र, रूप और अन्य विशेषताओं को देखकर मन में विचार हुआ—“क्या यह मेरे परिचित व्यक्ति है?”—यह ईहा है। निकट जाकर पहचान और उपलब्ध लक्षणों से निश्चित हुआ—“हाँ, ये वही व्यक्ति हैं”—यह अवाय, अर्थात् निर्णय है। बाद में उस व्यक्ति की पहचान स्मृति में स्थिर रहना धारणा है।

इस प्रकार अवग्रह से धारणा तक की प्रक्रिया केवल ज्ञान के चार नामों का क्रम नहीं है, बल्कि प्रारम्भिक बोध से निश्चित ज्ञान तक पहुँचने की एक क्रमिक संरचना है। न्याय की दृष्टि से इसका

बीज इस बात में है कि ज्ञान को निश्चय तक पहुँचने के लिए क्रमिक प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है। अतः इसे तत्त्वार्थसूत्र में “ज्ञान की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया” के साथ-साथ “निश्चयात्मक ज्ञान की तार्किक पूर्वपीठिका” के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

“ज्ञानमीमांसा से न्यायमीमांसा की ओर” — पहले विषय को समझें

इस शीर्षक का मूल आशय यह है कि पहले हम यह समझते हैं कि ज्ञान क्या है और उसके कितने प्रकार हैं; फिर अगला प्रश्न उठता है कि उस ज्ञान के आधार पर किसी वस्तु के बारे में यथार्थ निर्णय कैसे किया जाए? यही संक्रमण ज्ञानमीमांसा से न्यायमीमांसा की ओर जाने का मार्ग है।

तत्त्वार्थसूत्र में सूत्र है—“मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्।” यहाँ ज्ञान के पाँच प्रकार बताए गए हैं—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान। इसका पहला महत्त्व यह है कि ज्ञान एक समान नहीं है; उसके स्वरूप और विषय-ग्रहण की क्षमता में भिन्नता है। उदाहरण के लिए, हम किसी वस्तु को इन्द्रिय और मन के माध्यम से जानते हैं, किसी विषय के बारे में किसी विश्वसनीय वक्ता या ग्रन्थ से जानते हैं, जबकि जैन दर्शन में अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान की विशिष्ट ज्ञान-क्षमताएँ भी मानी गई हैं।

अब यहीं से न्याय का प्रश्न पैदा होता है। मान लीजिए मुझे किसी वस्तु के बारे में ज्ञान हुआ—तो क्या केवल ज्ञान हो जाने से वह यथार्थ ज्ञान सिद्ध हो गया? नहीं। अब प्रश्न होगा—यह ज्ञान किस प्रकार उत्पन्न हुआ? उसका विषय क्या है? उसकी सीमा क्या है? वह वस्तु के यथार्थ स्वरूप को कितना ग्रहण करता है? उसके आधार पर किया गया निश्चय कितना विश्वसनीय है? ये प्रश्न ज्ञान के स्वरूप से आगे बढ़कर ज्ञान की प्रामाणिकता और तत्त्वनिर्णय से संबंधित हो जाते हैं। यही न्यायमीमांसा का क्षेत्र बनता है।

इसे एक सरल उदाहरण से समझिए। आपने दूर से धुआँ देखा। सबसे पहले आपको धुएँ का ज्ञान हुआ—यह ज्ञान का विषय है। अब प्रश्न उठा—यह धुआँ किस कारण से है? आपने देखा कि धुआँ लगातार उठ रहा है और सामान्य अनुभव के आधार पर जहाँ धुआँ होता है वहाँ अग्नि होने का संबंध जाना है। तब आप निष्कर्ष निकालते हैं—“वहाँ अग्नि है।” यहाँ केवल “धुआँ दिखाई दिया” तक बात सीमित नहीं रही; ज्ञान, ज्ञान के आधार का परीक्षण, संबंध का विचार, निष्कर्ष की प्रक्रिया शुरू हो गई। यही वह बिन्दु है जहाँ ज्ञानमीमांसा से न्यायमीमांसा की दिशा खुलती है। “ज्ञानमीमांसा पूछती है—ज्ञान क्या है और उसके प्रकार कौन-कौन से हैं? न्यायमीमांसा आगे पूछती है—उस ज्ञान के आधार पर वस्तु का यथार्थ निश्चय कैसे किया जाए?”

और इसी कारण “मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्” को न्याय का प्रत्यक्ष सूत्र न कहकर न्याय की ज्ञानगत पूर्वभूमि कहना अधिक सटीक होगा। यह सूत्र ज्ञान की संरचना स्थापित करता है, और “प्रमाणनयैरधिगमः” उस ज्ञान को तत्त्व के अधिगम और निश्चय की व्यवस्थित दिशा देता है।

प्रमाण का वर्गीकरण : प्रत्यक्ष और परोक्ष

तत्त्वार्थसूत्र में प्रमाण के स्वरूप की चर्चा करते हुए “आद्ये परोक्षम्” तथा “प्रत्यक्षमन्यत्” सूत्रों द्वारा ज्ञान की प्रत्यक्षता और परोक्षता का निर्धारण किया गया है। यहाँ प्रमाण-विचार का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण आधार सामने आता है कि वस्तु का ज्ञान होना ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि यह भी देखना आवश्यक है कि वह ज्ञान किस प्रकार प्राप्त हुआ है। ज्ञान की उत्पत्ति की प्रक्रिया और उसकी प्रत्यक्षता के आधार पर प्रमाण का वर्गीकरण किया जाता है। इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्र में ज्ञानमीमांसा से प्रमाणमीमांसा और प्रमाणमीमांसा से न्यायचिन्तन की दिशा क्रमशः विकसित होती दिखाई देती है।

तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार पूर्वोक्त पाँच ज्ञानों में मति और श्रुतज्ञान परोक्ष माने गए हैं तथा अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान प्रत्यक्ष हैं। यहाँ ‘प्रत्यक्ष’ और ‘परोक्ष’ का अर्थ केवल सामान्य व्यवहार में प्रयुक्त “आँखों से दिखाई देना” अथवा “दूसरे से सुन लेना” नहीं है। यह जैन ज्ञानमीमांसा की विशिष्ट दार्शनिक संकल्पना है इसलिए इस सूत्र को समझते समय जैन परिभाषा और उसकी ज्ञानमीमांसात्मक पृष्ठभूमि को ध्यान में रखना आवश्यक है।

परोक्ष प्रमाण का आशय

मति और श्रुतज्ञान को परोक्ष कहा गया है। इसका आशय यह है कि इन ज्ञानों में वस्तु का ज्ञान एक विशिष्ट माध्यम या प्रक्रिया के द्वारा होता है। मति-ज्ञान की उत्पत्ति में इन्द्रिय और मन की भूमिका रहती है, जबकि श्रुतज्ञान पूर्वप्राप्त ज्ञान, शब्द, वचन अथवा आगम के माध्यम से विषय को ग्रहण करता है।

इसे आधुनिक उदाहरण से समझें। मान लीजिए आप किसी कमरे के बाहर खड़े हैं और भीतर किसी व्यक्ति के बोलने की आवाज सुनकर जानते हैं कि “कमरे में कोई व्यक्ति उपस्थित है।” आपने उस व्यक्ति को सीधे नहीं देखा, बल्कि श्रवण के माध्यम से उसके अस्तित्व का ज्ञान प्राप्त किया। यह सामान्य अर्थ में परोक्षता को समझने का उदाहरण है।

इसी प्रकार किसी विश्वसनीय ग्रन्थ में पढ़कर हमें किसी ऐतिहासिक घटना का ज्ञान होता है। हमने उस घटना को स्वयं प्रत्यक्ष नहीं देखा, बल्कि शब्द के माध्यम से उसका ज्ञान प्राप्त किया। यह श्रुतज्ञान की भूमिका को समझने का आधुनिक उदाहरण हो सकता है।

प्रत्यक्ष प्रमाण का आशय

इसके विपरीत तत्त्वार्थसूत्र अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान के अन्तर्गत रखता है। यहाँ प्रत्यक्षता जैन दर्शन की विशिष्ट ज्ञानमीमांसा के अनुसार समझी जानी चाहिए। अतः यह कहना पर्याप्त नहीं होगा कि “जो आँखों से दिखाई दे वही प्रत्यक्ष है।” जैन दर्शन में इन्द्रियजन्य ज्ञान की अपेक्षा आत्मा की ज्ञान-शक्ति के अधिक प्रत्यक्ष रूपों की भी चर्चा है।

उदाहरण के लिए मनःपर्ययज्ञान दूसरे के मन में स्थित विचारों का ज्ञान करता है और केवलज्ञान को सर्वार्थग्राही पूर्ण ज्ञान माना जाता है। इस प्रकार प्रत्यक्षता का प्रश्न केवल इन्द्रिय-सन्निकर्ष का प्रश्न नहीं रह जाता, बल्कि ज्ञान की आत्मगत प्रत्यक्षता और उसकी विषयग्रहण-क्षमता से जुड़ जाता है।

न्याय के बीज की दृष्टि से महत्त्व

किसी भी न्याय-पद्धति में यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम पहले यह निश्चित करें कि किस प्रकार का ज्ञान हमारे सामने है और वह किस साधन से उत्पन्न हुआ है। यदि किसी व्यक्ति ने किसी वस्तु को स्वयं जाना है और दूसरे ने किसी विश्वसनीय कथन से जाना है, तो दोनों ज्ञानों की उत्पत्ति की प्रक्रिया समान नहीं है। अतः ज्ञान के साधन और स्वरूप का परीक्षण आवश्यक हो जाता है।

इस प्रकार यहाँ एक तार्किक क्रम दिखाई देता है— वस्तु का ज्ञान, ज्ञान की उत्पत्ति का परीक्षण, ज्ञान की प्रत्यक्षता/परोक्षता का निर्धारण, प्रमाण का वर्गीकरण, ज्ञान की प्रामाणिकता का विचार और तत्त्व का निश्चय। यही वह बिन्दु है जहाँ सामान्य ज्ञानमीमांसा प्रमाणमीमांसा में प्रवेश करती है और प्रमाणमीमांसा न्यायमीमांसा की आधारभूमि तैयार करती है।

मान लीजिए किसी विद्यार्थी के संबंध में प्रश्न है—“क्या वह आज विद्यालय में उपस्थित है?” एक व्यक्ति उसे कक्षा में स्वयं देखकर कहता है—“हाँ, वह उपस्थित है।” दूसरे व्यक्ति ने विद्यालय के उपस्थिति-रजिस्टर में उसका नाम देखा और कहा—“वह उपस्थित है।” तीसरे व्यक्ति ने किसी शिक्षक से यह बात सुनी। अब तीनों के कथन में निष्कर्ष एक हो सकता है, लेकिन ज्ञान की प्राप्ति का आधार अलग-अलग है। न्यायबुद्धि यहीं से प्रश्न करती है—

- ज्ञान किससे हुआ ?
- किस साधन से हुआ ?
- साधन विश्वसनीय है या नहीं ?
- ज्ञान वस्तु के अनुकूल है या नहीं ?
- क्या इस ज्ञान के आधार पर निश्चित निष्कर्ष निकाला जा सकता है ?

“आद्ये परोक्षम्, प्रत्यक्षमन्यत्” का शोधगत महत्त्व

इस सूत्र की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि ज्ञान को केवल पाँच प्रकारों में बाँटकर छोड़ नहीं दिया गया, बल्कि उन ज्ञान-प्रकारों की प्रमाणगत स्थिति भी निर्धारित की गई। इससे ज्ञान के संबंध में एक और गहरा प्रश्न सामने आता है—सभी ज्ञान समान प्रकार से वस्तु को ग्रहण नहीं करते। यहीं से न्याय का महत्वपूर्ण प्रश्न जन्म लेता है—

“किस ज्ञान को प्रमाण माना जाए और किस आधार पर उसे प्रमाण माना जाए?” अर्थात् ज्ञान का वर्गीकरण प्रमाण-विचार की ओर ले जाता है और प्रमाण-विचार तत्त्वनिर्णय की ओर। “आद्ये परोक्षम्, प्रत्यक्षमन्यत्” सूत्र ज्ञान की प्रत्यक्षता के आधार पर उसका वर्गीकरण प्रस्तुत करता है। यह वर्गीकरण केवल ज्ञान के भेदों का विवरण नहीं, बल्कि ज्ञान के साधन, उसकी प्राप्ति-पद्धति और उसके प्रमाणत्व पर विचार की आधारभूमि निर्मित करता है। वस्तु का ज्ञान किस प्रकार प्राप्त हुआ—यह प्रश्न जब ज्ञान के स्वरूप के साथ जुड़ता है, तब प्रमाण और अप्रमाण, यथार्थ और अयथार्थ तथा निश्चय और अनिश्चय के प्रश्न सामने आते हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष-परोक्ष का यह विवेचन तत्त्वार्थसूत्र में न्यायमीमांसा की ओर अग्रसर होने वाला महत्वपूर्ण ज्ञानमीमांसात्मक सोपान है।”

इसलिए शोध की दृष्टि से शीर्षक “प्रमाण का वर्गीकरण : प्रत्यक्ष और परोक्ष” के साथ एक और पंक्ति बहुत प्रभावी रहेगी—

“ज्ञान की प्राप्ति-पद्धति का परीक्षण ही प्रमाण-परीक्षण की प्रथम सीढ़ी है।”

विपर्यय : मिथ्याज्ञान की तार्किक पहचान

तत्त्वार्थसूत्र का सूत्र “सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ॥३२॥” यथार्थ ज्ञान और मिथ्याज्ञान के बीच विवेक की अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका को सामने रखता है। सूत्र का आशय है कि सत् और असत् के बीच विशेषता का विवेक किए बिना, यदृच्छा से अर्थात् जैसा मन में आया वैसा ही

वस्तु का ग्रहण किया जाए, तो ऐसा ज्ञान उन्मत्त व्यक्ति के ज्ञान के समान अज्ञानरूप हो जाता है। यहाँ केवल ज्ञान की उत्पत्ति को पर्याप्त नहीं माना गया, बल्कि उसके यथार्थता-परीक्षण को आवश्यक माना गया है। वस्तु वास्तव में जैसी है और उसका ज्ञान जैसा हुआ है—इन दोनों के बीच सामंजस्य है या नहीं, यही सत्य—असत्य के विवेक की मूल कसौटी है।

इसे रस्सी—सर्प के उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है। अँधेरे में पड़ी रस्सी को देखकर किसी व्यक्ति को प्रतीत हुआ—“यह साँप है।” यहाँ वास्तविक वस्तु रस्सी है, जबकि उसका ग्रहण साँप के रूप में हुआ। व्यक्ति को “कुछ है” इसका बोध तो हुआ, लेकिन वस्तु के वास्तविक स्वरूप का निर्धारण गलत हुआ। यदि वह बिना परीक्षण के अपनी पहली धारणा को ही सत्य मान लेता है, तो यह यदृच्छोपलब्धि के आधार पर हुआ मिथ्याज्ञान है। जब प्रकाश करके या निकट से देखकर यह निश्चित होता है कि “यह साँप नहीं, रस्सी है”, तब वस्तु और ज्ञान के बीच वास्तविक संबंध स्पष्ट होता है और पूर्वज्ञान का मिथ्यात्व सिद्ध हो जाता है।

इस उदाहरण को न्याय की तार्किक कसौटी पर रखने पर प्रक्रिया और स्पष्ट होती है। पहले वस्तु का बोध हुआ, फिर उसके स्वरूप के संबंध में धारणा बनी, फिर उस धारणा की वस्तु के साथ संगति की परीक्षा की गई और अंततः सही अथवा गलत होने का निर्णय हुआ। अतः न्यायपूर्ण दृष्टि में केवल “मुझे ऐसा दिखाई दिया” या “मुझे ऐसा लगा” पर्याप्त नहीं है। प्रश्न यह है कि जो दिखाई दिया, वह वास्तव में वही है या नहीं? उस ज्ञान का आधार क्या है? क्या उपलब्ध आधार वस्तु के स्वरूप से संगत है? क्या उसके विपरीत कोई तथ्य उपस्थित है? इस प्रकार प्रतीति, परीक्षण, संगति की परीक्षा, सत्य—असत्य विवेक और निश्चय की प्रक्रिया सामने आती है।

इसी बात को आधुनिक उदाहरण से भी समझा जा सकता है। मान लीजिए WhatsApp पर संदेश आता है—“कल विद्यालय बंद रहेगा।” कोई व्यक्ति संदेश पढ़कर बिना जाँच के इसे सत्य मान लेता है। बाद में विद्यालय की आधिकारिक सूचना से ज्ञात होता है कि विद्यालय खुला रहेगा। यहाँ पहली सूचना का प्राप्त होना एक बात है और उसका यथार्थ होना दूसरी बात। यदि व्यक्ति आधिकारिक सूचना, स्रोत और तिथि की जाँच करता है, तो वह अपने पूर्वाग्रह या आकस्मिक सूचना के स्थान पर प्रमाणित तथ्य के आधार पर निर्णय करता है। इस उदाहरण में भी सिर्फ सूचना की प्राप्ति नहीं, बल्कि उसकी सत्यता की परीक्षा निर्णायक है।

अतः “सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्ध्येरुन्मत्तवत्” को न्याय का प्रत्यक्ष अनुमान-सूत्र कहना उचित नहीं होगा, किन्तु इसमें न्याय-चिन्तन की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण पूर्वभूमि दिखाई देती है। वह

है—वस्तु और ज्ञान के बीच संगति की परीक्षा तथा मिथ्याज्ञान का विवेक। यदि यथार्थ तत्त्व का निर्णय करना है तो मनमाने, आकस्मिक अथवा अपरीक्षित ग्रहण को स्वीकार नहीं किया जा सकता। ज्ञान को परीक्षण की कसौटी पर रखना होगा और उसके बाद ही निश्चय करना होगा।

“तत्त्वार्थसूत्र में विपर्यय का विवेचन केवल मिथ्याज्ञान का निषेध नहीं है, बल्कि यथार्थ ज्ञान की पहचान के लिए एक तार्किक कसौटी प्रस्तुत करता है। सत्-असत् के विवेक, वस्तु और ज्ञान की संगति की परीक्षा तथा यदृच्छाग्रहण के निषेध के माध्यम से यह स्पष्ट होता है कि तत्त्वनिर्णय के लिए अपरीक्षित प्रतीति नहीं, बल्कि परीक्षणोत्तर निश्चय अपेक्षित है। यही प्रवृत्ति आगे प्रमाण, नय और न्याय की विकसित तर्क-पद्धति के लिए महत्वपूर्ण पूर्वपीठिका निर्मित करती है।”

सप्तनय : वस्तु के विभिन्न पक्षों का तार्किक ग्रहण

तत्त्वार्थसूत्र का सूत्र “नैगमसंग्रहव्यवहारजुसूत्रसमभिरूढैवंभूता नयाः।” जैन दर्शन में नय की सुव्यवस्थित संकल्पना प्रस्तुत करता है। वस्तु अनन्त धर्मात्मक है; अतः उसे किसी एक ही दृष्टि, एक ही पक्ष अथवा एक ही कथन में पूर्णतः अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। वस्तु के किसी विशिष्ट पक्ष, अपेक्षा अथवा दृष्टिकोण को प्रधान करके उसका कथन करना नय कहलाता है। इस दृष्टि से नय वस्तु को सात भागों में विभाजित करने का प्रयास नहीं, बल्कि एक ही वस्तु के विभिन्न कथनीय पक्षों को उनकी-उनकी अपेक्षा में ग्रहण करने की तार्किक पद्धति है। इसी कारण एक ही वस्तु के संबंध में अनेक कथन होते हुए भी वे परस्पर विरोधी नहीं होते, यदि उनकी अपेक्षा स्पष्ट हो।

1. नैगम नय — सामान्य उद्देश्य या संकल्प की अपेक्षा से वस्तु का कथन।
2. संग्रह नय — वस्तुओं में विद्यमान सामान्य धर्म को ग्रहण करना।
3. व्यवहार नय — सामान्य में से किसी विशेष वस्तु का व्यावहारिक रूप से निर्धारण करना।
4. ऋजुसूत्र नय — वस्तु की वर्तमान पर्याय या वर्तमान अवस्था को प्रधान करके कथन करना।
5. शब्द नय — शब्द के सामान्य प्रचलित अर्थ के आधार पर वस्तु का ग्रहण।
6. समभिरूढ नय — शब्द की व्युत्पत्ति और विशिष्ट अर्थ को प्रधान करके उसका ग्रहण।
7. एवंभूत नय — शब्द का प्रयोग तभी किया जाए जब उसका व्युत्पत्तिगत अर्थ उसी समय वस्तु में क्रियात्मक रूप से विद्यमान हो।

इसे एक शिक्षक के उदाहरण से समझा जा सकता है। एक व्यक्ति विद्यालय जा रहा है। उसके संबंध में कहा गया—“यह पढ़ाने जा रहा है।” यहाँ उसके सामान्य प्रयोजन को ग्रहण किया गया, जो नैगम नय का उदाहरण है। उसी व्यक्ति को व्यापक सामान्यता की दृष्टि से “यह मनुष्य है” कहा जाए

तो सामान्य धर्म प्रधान है, जो संग्रह नय की दिशा को प्रकट करता है। उसी सामान्य वर्ग में से उसका विशिष्ट निर्धारण करते हुए कहा जाए—“यह शिक्षक है”, तो व्यवहार नय की विशेषता सामने आती है। यदि पूछा जाए कि इस समय वह क्या कर रहा है और उत्तर मिले—“यह पढ़ा रहा है”, तो वर्तमान पर्याय या क्रिया को प्रधानता देने वाला ऋजुसूत्र नय स्पष्ट होता है। अब “शिक्षक” शब्द को उसके सामान्य प्रचलित अर्थ में ग्रहण करना शब्द नय, उसके व्युत्पत्तिगत विशिष्ट अर्थ को प्रधान करना समभिरूढ़ नय, और जब वही व्यक्ति वास्तव में शिक्षण की क्रिया में प्रवृत्त हो तभी “शिक्षक” शब्द का उस अर्थ में प्रयोग करना एवंभूत नय की दिशा को स्पष्ट करता है। इस प्रकार एक ही व्यक्ति है, पर उसके संबंध में कथन की अपेक्षा बदलते ही कथन का पक्ष बदल जाता है।

यहीं नय की तार्किक शक्ति सामने आती है। यदि कोई कहे—“यह मनुष्य है, इसलिए यह शिक्षक नहीं है”, तो वह सामान्य और विशेष को परस्पर विरोधी मानने की भूल करेगा। इसी प्रकार “यह शिक्षक है” और “यह अभी पढ़ा रहा है” भी आवश्यक रूप से एक ही अपेक्षा के कथन नहीं हैं। नय हमें यह पूछना सिखाता है कि कथन किस पक्ष से किया गया है, उसकी अपेक्षा क्या है और उसकी सीमा क्या है? इस प्रकार नय-पद्धति में केवल कथन नहीं, बल्कि कथन की अपेक्षा का निर्धारण भी महत्वपूर्ण है। यही अपेक्षा-विवेक अनेकान्तदृष्टि को तार्किक अभिव्यक्ति प्रदान करता है।

न्याय के बीज की दृष्टि से सप्तनय का महत्व इसी पक्ष-निर्धारण और अपेक्षा-निर्धारण में है। किसी भी तार्किक विचार के लिए यह आवश्यक है कि वस्तु के किस पक्ष को ग्रहण करके कथन किया जा रहा है, यह स्पष्ट हो। इस अर्थ में सप्तनय कथन के विषय, दृष्टिकोण, अपेक्षा और सीमा को निर्धारित करने वाली पूर्व-तार्किक व्यवस्था प्रस्तुत करता है। वस्तु, वस्तु की अनेक धर्मात्मकता, विशिष्ट पक्ष का ग्रहण, अपेक्षा का निर्धारण, पक्षानुसार कथन, कथन की सीमा का विवेक और यथार्थ तत्त्वबोध।

अतः सप्तनय वस्तु के एकांगी निर्णय के स्थान पर अपेक्षानुसार पक्ष-ग्रहण की तार्किक पद्धति है। नैगम से सामान्य प्रयोजन, संग्रह से सामान्य धर्म, व्यवहार से विशेष निर्धारण, ऋजुसूत्र से वर्तमान पर्याय तथा शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत से शब्दार्थ की क्रमशः सूक्ष्मतर अपेक्षाएँ ग्रहण होती हैं। इस प्रकार नय वस्तु के विविध पक्षों को व्यवस्थित रूप से ग्रहण करने के साथ-साथ यह भी निर्धारित करता है कि किसी कथन की सत्यता किस अपेक्षा में है। यही पक्ष, अपेक्षा और कथन की सीमा का विवेक तत्त्वार्थसूत्र में न्याय के बीज को पहचानने की दृष्टि से सप्तनय को अत्यन्त महत्वपूर्ण बनाता है।

अर्पित—अनर्पित : विरोधी धर्मों के समन्वय की युक्ति

तत्त्वार्थसूत्र का सूत्र “अर्पितानर्पितसिद्धेः” जैन दर्शन की अनेकान्तात्मक विचार-पद्धति को समझने के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसका मूल आशय यह है कि एक ही वस्तु में अनेक धर्म विद्यमान हो सकते हैं, किंतु कथन करते समय उनमें से जिस धर्म को मुख्य रूप से विवक्षित किया जाता है, वह अर्पित है और जिसे उस समय मुख्य नहीं बनाया जाता, वह अनर्पित है। इस प्रकार किसी वस्तु के एक धर्म को मुख्य करके उसका कथन करने का अर्थ यह नहीं है कि उसमें अन्य धर्मों का अस्तित्व ही नहीं है। वे उस समय अनर्पित अथवा गौण रूप में विद्यमान रहते हैं। यही भेद अनेकान्तवाद को तार्किक अभिव्यक्ति देता है।

यहाँ एक महत्वपूर्ण बात समझना आवश्यक है कि अर्पित—अनर्पित का संबंध वस्तु में धर्मों के होने या न होने से अधिक कथन की विवक्षा से है। वस्तु अपने अनेक धर्मों सहित रहती है, लेकिन वक्ता जब किसी एक विशेष पक्ष को सामने रखकर कथन करता है, तब वह धर्म अर्पित हो जाता है और अन्य धर्म अनर्पित। इसलिए एक ही वस्तु के संबंध में अलग-अलग कथन किए जाने पर वे आवश्यक रूप से परस्पर विरोधी नहीं होते। विरोध तभी उत्पन्न होता है जब हम भिन्न अपेक्षाओं से किए गए कथनों को एक ही अपेक्षा में रखकर देखने लगते हैं।

घड़े का उदाहरण : एक वस्तु, अनेक धर्म

मान लीजिए सामने मिट्टी का एक घड़ा रखा है। उसके संबंध में कहा गया—“यह घड़ा है।” यहाँ घड़ापन मुख्य है; अतः घड़ापन अर्पित है। उसी समय उसमें मिट्टीपन भी है, लेकिन कथन का विषय मिट्टीपन नहीं है; इसलिए मिट्टीपन अनर्पित है।

अब उसी घड़े के संबंध में कहा जाए—“यह मिट्टी है।” यहाँ दृष्टिकोण बदल गया। अब मिट्टीपन अर्पित और घड़ापन अनर्पित हो गया। ध्यान देने योग्य बात यह है कि वस्तु नहीं बदली; केवल कथन की अपेक्षा बदली है।

इसलिए— “यह घड़ा है” और “यह मिट्टी है”

इन दोनों कथनों को परस्पर विरोधी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि दोनों अलग-अलग अपेक्षाओं से एक ही वस्तु के अलग-अलग धर्मों को प्रकाशित कर रहे हैं।

स्थायित्व और परिवर्तन का उदाहरण

अर्पित—अनर्पित की तार्किक शक्ति को और गहराई से समझने के लिए द्रव्य और पर्याय का उदाहरण लिया जा सकता है। एक वस्तु के संबंध में कहा जाता है—“यह स्थायी है” और दूसरी ओर कहा जाता है—“यह परिवर्तनशील है।” पहली दृष्टि में दोनों कथन विरोधी दिखाई देते हैं। यदि स्थायित्व और परिवर्तन को बिल्कुल एक ही अर्थ, एक ही अपेक्षा और एक ही स्तर पर रखा जाए तो वास्तव में विरोध उत्पन्न होगा।

लेकिन अनेकान्तदृष्टि में वस्तु को उसके विभिन्न पक्षों से देखा जाता है। द्रव्य की अपेक्षा उसका स्थायित्व और पर्याय की अपेक्षा उसका परिवर्तन ग्रहण किया जा सकता है। अतः स्थायित्व को अर्पित करके कथन करने पर परिवर्तन उस समय अनर्पित है; परिवर्तन को अर्पित करके कथन करने पर स्थायित्व अनर्पित है। इससे दोनों धर्मों का अस्तित्व नष्ट नहीं होता, बल्कि उनकी अपेक्षाएँ स्पष्ट होती हैं।

यही अर्पित—अनर्पित की तार्किक विशेषता है—विरोधी प्रतीत होने वाले धर्मों को बिना एक-दूसरे का निरपेक्ष निषेध किए, उनकी उचित अपेक्षा में समझाना।

व्यक्ति के उदाहरण से

मान लीजिए एक व्यक्ति शिक्षक भी है और पिता भी। विद्यालय में उसके संबंध में कहा जाता है—“यह शिक्षक है।” यहाँ उसका शिक्षकत्व अर्पित है और पितृत्व अनर्पित। घर में उसके बच्चे के संबंध में कहा जाता है—“ये मेरे पिता हैं।” अब पितृत्व अर्पित और शिक्षकत्व अनर्पित हो गया। क्या विद्यालय में शिक्षक होने के कारण वह पिता नहीं रहा? और क्या घर में पिता होने के कारण उसका शिक्षकत्व समाप्त हो गया? नहीं। व्यक्ति के दोनों संबंध वास्तविक हैं; केवल कथन की विवक्षा और प्रयोजन बदल गया। यह उदाहरण अर्पित—अनर्पित की बात को बहुत सरल बना देता है—प्रधानता बदलती है, वस्तु के सभी धर्म समाप्त नहीं होते।

आधुनिक उदाहरण : एक विद्यार्थी का परिचय

एक विद्यार्थी के संबंध में शिक्षक कहता है—“यह कक्षा दस का विद्यार्थी है।” यहाँ उसकी कक्षा और विद्यार्थी—रूप प्रमुख है। वही विद्यार्थी विद्यालय की क्रिकेट टीम में है, तो खेल शिक्षक कह सकता है—“यह हमारी क्रिकेट टीम का खिलाड़ी है।” घर में वही व्यक्ति किसी का पुत्र है और किसी छोटे भाई के लिए भाई है। इनमें से कोई भी कथन दूसरे कथन का निषेध नहीं करता। व्यक्ति एक ही है, लेकिन प्रसंग के अनुसार अलग धर्म अर्पित होता है और दूसरे धर्म अनर्पित। यदि कोई कहे—“यह

खिलाड़ी है, इसलिए विद्यार्थी नहीं है”, तो यह तार्किक भूल होगी। क्योंकि “खिलाड़ी” और “विद्यार्थी” दो अलग अपेक्षाओं से उसके दो वास्तविक पक्षों को व्यक्त कर रहे हैं।

अर्पित-अनर्पित और न्याय का संबंध

अब इसे शोध के मूल विषय “तत्त्वार्थसूत्र में न्याय के बीज” से जोड़ना महत्वपूर्ण है। न्यायपूर्ण चिंतन में किसी कथन की परीक्षा करते समय केवल कथन के शब्दों को देखना पर्याप्त नहीं होता; यह देखना आवश्यक है कि कथन किस अपेक्षा से किया गया है, किस धर्म को प्रधान बनाया गया है और किन धर्मों को उस समय गौण रखा गया है। इस दृष्टि से अर्पित-अनर्पित एक प्रकार की कथन-विश्लेषण पद्धति प्रदान करता है। यह हमें सिखाता है कि— वस्तु अनेकधर्मात्मक है। कथन में किसी एक धर्म की विवक्षा होती है। विवक्षित धर्म अर्पित होता है। अन्य धर्म उस समय अनर्पित रहते हैं। अलग-अलग अपेक्षाओं के कथनों को एक ही अपेक्षा में रखकर विरोध नहीं मानना चाहिए। अपेक्षा स्पष्ट होने पर कथनों का वास्तविक संबंध समझ में आता है। इससे न्याय के लिए अत्यन्त आवश्यक “कथन पद्धति और सीमा” स्पष्ट होती है।

एक महत्वपूर्ण तार्किक सावधानी

यह तार्किक संवाद के लिए आवश्यक अपेक्षा-विवेक प्रदान करता है। किसी कथन को निरपेक्ष मान लेने के स्थान पर यह पूछना कि “किस अपेक्षा से यह कथन सत्य है?” न्याय की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण तार्किक संस्कार है। इसलिए “‘अर्पितानर्पितसिद्धेः’ वस्तु में विद्यमान अनेक धर्मों में विवक्षित धर्म को मुख्य तथा अविवक्षित धर्म को गौण मानकर कथन की संगति स्थापित करता है। इससे एक ही वस्तु के संबंध में भिन्न अथवा विरोधी प्रतीत होने वाले कथनों को उनकी अपेक्षा में समझने की तार्किक क्षमता विकसित होती है। घड़े में घटत्व और मृत्तिकात्व, तथा द्रव्य में स्थायित्व और पर्याय में परिवर्तन जैसे उदाहरण स्पष्ट करते हैं कि विरोध वस्तु के अनेक धर्मों में अनिवार्यतः नहीं, बल्कि अपेक्षाभेद की अपेक्षा से उत्पन्न होता है। अतः अर्पित-अनर्पित सिद्धान्त को पक्ष-निर्धारण, अपेक्षा-विवेक और विरोध-निराकरण की ऐसी तार्किक युक्ति कहा जा सकता है, जो तत्त्वार्थसूत्र में विकसित जैन न्याय की महत्वपूर्ण पूर्वपीठिका का निर्माण करती है।”

निष्कर्ष

समग्रतः तत्त्वार्थसूत्र में न्याय के बीज की खोज करने पर यह स्पष्ट होता है कि आचार्य उमास्वामी ने न्यायशास्त्र की स्वतंत्र एवं विस्तृत परिभाषा प्रस्तुत नहीं की, बल्कि तत्त्वज्ञान,

यथार्थबोध, तत्त्वनिर्णय और प्रमाणाधारित अधिगम के माध्यम से उस तार्किक भूमि का निर्माण किया, जिस पर आगे जैन न्याय का सुविस्तृत भवन निर्मित हुआ। न्याय का मूल प्रयोजन यथार्थ ज्ञान और उचित निष्कर्ष तक पहुँचना माना गया है; इस दृष्टि से तत्त्वार्थसूत्र की संरचना में न्याय की अनेक आधारभूत प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं।

“तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्” से आरम्भ होने वाली तत्त्व के यथार्थ स्वरूप की खोज, निक्षेप द्वारा वस्तु के निर्धारण की पद्धति, “प्रमाणनयैरधिगमः” द्वारा प्रमाण और नय को तत्त्वाधिगम का साधन स्वीकार करना, अवग्रह—ईहा—अवाय—धारणा द्वारा ज्ञान से निर्णय और धारण तक की क्रमिक प्रक्रिया तथा मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानम् द्वारा ज्ञान के विविध स्वरूपों का विवेचन—ये सभी मिलकर तत्त्वार्थसूत्र में एक विकसित ज्ञानमीमांसात्मक-तार्किक चेतना का संकेत देते हैं। विशेषतः प्रमाण और नय को तत्त्व के अधिगम का साधन मानना आगे विकसित जैन न्याय की आधारभूमि बनता है।

इसी क्रम को आगे बढ़ाते हुए सप्तनय वस्तु के विभिन्न पक्षों को अपेक्षानुसार ग्रहण करने की पद्धति प्रदान करते हैं। इससे यह तार्किक विवेक विकसित होता है कि कथन क्या है, किस पक्ष से है और किस अपेक्षा से सत्य है। इसी प्रकार “अर्पितानर्पितसिद्धेः” मुख्य—गौण विवक्षा के माध्यम से वस्तु में स्थित विभिन्न धर्मों के समन्वय और विरोध-निराकरण की दिशा प्रस्तुत करता है। दूसरी ओर “सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत्” जैसे सूत्र यथार्थ और अयथार्थ ग्रहण के विवेक की आवश्यकता को सामने रखते हैं। इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्र में केवल पदार्थों की सूची नहीं, बल्कि वस्तु को जानने, उसके पक्ष को निर्धारित करने, ज्ञान की परीक्षा करने, विरोध का निराकरण करने और तत्त्व का निश्चय करने की क्रमिक तार्किक प्रवृत्ति दिखाई देती है।

इसे संक्षेप में इस तार्किक विकास-क्रम में देखा जा सकता है— तत्त्वार्थ → यथार्थबोध → तत्त्वनिर्णय → ज्ञान की प्रक्रिया → प्रमाण → नय → पक्ष-निर्धारण → अपेक्षा-विवेक → विरोध-निराकरण → तत्त्वाधिगम।

अतः इस अध्ययन का केंद्रीय निष्कर्ष यह है कि तत्त्वार्थसूत्र में जैन न्याय अपने पूर्ण विकसित शास्त्रीय रूप में उपस्थित नहीं है, किंतु उसके अनेक मूलभूत तत्त्व बीज रूप में विद्यमान हैं। यहाँ न्याय का उद्देश्य यथार्थबोध, साधन प्रमाण—नय, प्रक्रिया ज्ञान और तत्त्वाधिगम, विश्लेषण-पद्धति नय एवं अनुयोग, तथा तार्किक विवेक अपेक्षा, पक्ष, सत्—असत् और अर्पित—अनर्पित के रूप में दिखाई देता है। बाद के जैनाचार्यों ने इन्हीं आधारों को प्रमाण, हेतु, दृष्टान्त, अनुमान, तर्क, अनेकान्त और

स्याद्वाद आदि के व्यवस्थित सिद्धान्तों में विकसित किया। अतः तत्त्वार्थसूत्र को जैन न्याय का विकसित ग्रन्थ कहना नहीं, बल्कि जैन न्याय की सुदृढ़ वैचारिक एवं तार्किक पूर्वपीठिका तथा बीज-ग्रन्थ के रूप में देखना अधिक समीचीन है।

इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्र का महत्त्व केवल इतना नहीं कि उसने जैन तत्त्वमीमांसा को सूत्रबद्ध किया, बल्कि यह भी है कि उसने तत्त्व के यथार्थ ज्ञान और निर्णय के लिए जिन तार्किक उपकरणों के बीज रोपे, उन्हीं से आगे चलकर जैन न्याय की स्वतंत्र और समृद्ध परम्परा का विकास हुआ।